पाठ का नाम : आलोचना के अवधारणात्मक पदों का सामान्य परिचय

हिंदी (ऑनर्स) , द्वितीय वर्ष

सेमेस्टर – III

प्रश्नपत्र - viii ( साहित्य चिंतन – 2 )

लेखक : डॉ. रमा

एसोसिएट प्रोफेसर

हिंदी विभाग

हंसराज महाविद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

09891172389

drrama1965@gmail.com

विषय प्रवेश
आधुनिकता और आधुनिकबोध
काव्यानुभूति
लोकमंगल
विरुद्धों का सामंजस्य
रूप और वस्तु
विभावन व्यापार
बिम्ब, प्रतीक और मिथक
फैंटेसी और भावाभास
विसंगति और विडम्बना
सपाटबयानी
सहानुभूति और स्वानुभूति
आदर्शवाद और यथार्थवाद

- **विषय प्रवेश**

आलोचना के अवधारणात्मक पदों के विशिष्ट अर्थों से परिचित होना हमेशा साहित्य के अध्येताओं के लिए महत्वपूर्ण रहा है। आलोचना जगत में ऐसे अवधारणात्मक पदों का बहुतायत प्रयोग होता है। हिंदी साहित्य कोश भाग-1 (डॉ. धीरेन्द्र वर्मा एवं उनके सहयोगियों द्वारा सम्पादित), हिंदी आलोचना के बीज शब्द (बच्चन सिंह), हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली (डॉ. अमरनाथ) आदि इस दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। संस्कृत, पाश्चात्य साहित्य, हिन्दी के अपने समीक्षा शास्त्र आदि से आए इन अवधारणात्मक पदों को समझना हमेशा चुनौतीपूर्ण रहा है। प्रस्तुत पाठ में शामिल जिन पदों के बारे में जानकारी उपलब्ध कराने की कोशिश की गई है, वे समय-समय पर इस क्षेत्र के विद्वानों के अनुशीलन और लेखन का ही सार-रूप है।

- **आधुनिकता और आधुनिकबोध**

आधुनिकतावाद शब्द का प्रयोग यूरोप में बीसवीं शती के आरम्भ से रोमन कैथोलिक चर्च की नव्य-शास्त्रवादी धारा के लिए किया गया। यह धारा वैसे तो इंग्लैंड में भी प्रचलित हुई, किन्तु अंग्रेजी आधुनिकतावाद रोमन आधुनिकतावाद से भिन्न है, यद्यपि दोनों का ही सम्बन्ध मसीही धर्म के परंपरा-प्राप्त रूप में, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रकाश में तथा विकासवादी सिद्धांत की पृष्ठभूमि में आवश्यक संशोधन करना है। बीसवीं सदी के आरम्भ में उदारचेता ईसाईयों का ध्यान इस तथ्य की ओर गया कि मसीही धार्मिक परंपरा में अनेक विश्वास हैं, जो कि नवीन वैज्ञानिक खोजों के आधार पर असत्य सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त विकासवाद की स्थापना ने तथा मानवशास्त्र, मनोविज्ञान एवं धर्म की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं ने अनेक नवीन सत्यों का उद्घाटन किया था। ऐसे में मसीही धर्म को इन नवीन सत्यों के अनुकूल बनाना जरुरी था। ऐसे में प्रो. पर्सी गार्डनर एवं हम्फ्री वार्ड आदि ने कोशिश की कि इसमें ऐसे बदलाव लाए जाएं जिससे मसीही धर्म और ईसा के प्रति पूर्ण आस्था रखते हुए नवीन वैज्ञानिक ऐतिहासिक तथा सामाजिक खोजों के फलस्वरूप प्राप्त सत्यों के साथ इस धर्म का सामंजस्य स्थापित किया जाय, ताकि मसीही धर्म और चर्च अधिक व्यापक आस्था एवं विश्वास का अधिकारी बन सके।

**क्या आप जानते हैं ?**

**टी.एस.इलियट की काव्यकृति 'द वेस्टलैंड' और जेम्स ज्वाइस का उपन्यास 'यूलिसेस' सन 1922 में प्रकाशित हुए। इन कृतियों को साहित्यिक आधुनिकतावाद का मूल माना जाता है।**

आधुनिकतावाद का प्रयोग कला के क्षेत्र में भी होता है। दरअसल इसकी व्याख्या ऐतिहासिक आधार पर प्राचीन शास्त्रवादी परंपरा की प्रतिक्रिया के रूप में ही की जा सकती है। कला के क्षेत्र में आधुनिकतावाद का रूप युग, सामाजिक परिस्थितियों एवं व्यक्तिगत मान्यताओं के आधार पर ही निर्दिष्ट किया जा सकता है। हालाँकि मूल प्रवृत्ति समान है। यूरोप में वैज्ञानिक विकास और पुनर्जागरण ने धर्म की भांति ही साहित्य को भी प्रभावित किया। किन्तु साहित्य के क्षेत्र में पश्चिम में भी और भारत में भी जो प्रतिक्रिया हुई वह अधिक प्रखर और बलवती थी। प्राचीन शास्त्रवादी रूपों, छंदों एवं रीतियों के बंधनों का बहिष्कार कर नवीन रूपों, छंदों एवं रीतियों की उद्भावना की गई। अंग्रेजी साहित्य में यह कार्य स्वच्छंदतावादी कवियों ने किया और हिंदी साहित्य में यह कार्य छायावादी कवियों ने। परन्तु हिंदी साहित्य में छायावादी कविता से भी बहुत पहले भारतेंदु-युग से ही इस नवीनता का, आधुनिकता का समावेश हो चुका था। यहाँ की आधुनिकता की प्रवृत्ति ने समाज, धर्म, राजनीति सभी क्षेत्रों में सुधार का प्रयत्न किया। कालांतर में आधुनिकतावाद में विज्ञान के अतिरिक्त मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, मार्क्सवाद और नवीन दार्शनिक धाराओं – जैसे प्रतीकवाद अस्तित्ववाद आदि – का भी समावेश हुआ और आरंभिक उन्मुक्तता का वेग कम होने लगा।

इस तरह आधुनिकतावाद की व्याख्या के दो सन्दर्भ सामने आए – पहला, प्राचीन शास्त्रवादी धारा की प्रतिक्रिया के रूप में और दूसरा, नवीन भौतिक-मानसिक आविष्कारों एवं दार्शनिक धाराओं के प्रभाव के रूप में। इस तरह वस्तु-तत्त्व एवं रूप दोनों ही दृष्टियों से साहित्य में आधुनिकतावादी प्रवृतियां लक्षित होती हैं। पश्चिम में तो अब उत्तर आधुनिकतावाद की भी चर्चा होने लगी है,

जिसके अंतर्गत यांत्रिक एवं औद्योगिक विकास से निर्मित इस जीवन-व्यवस्था की सीमाओं का विवेचन किया जाता है और साथ ही इतिहास के अवरोध की बात भी की जा रही है, जिसमें बुनियादी सवाल यह है कि आज की इस अत्यंत विकसित औद्योगिक व्यवस्था के बाद की प्रगति का रूप क्या होगा?

जहाँ तक आधुनिकबोध का प्रश्न है तो हम जानते हैं कि मध्यकाल तक धर्म या यूं कहें कि धर्म का बाहरी विधि-विधान जीवन का केंद्र रहा। किन्तु डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत के साथ ही धर्म का केन्द्रीय तत्त्व ईश्वर निरस्त हो गया और नीत्शे ने घोषणा कर दी कि ईश्वर की मृत्यु हो गई है। इस बदलते युग में वैज्ञानिक क्रांति के परिप्रेक्ष्य में मध्यवर्ग का उदय, महानगरों की स्थापना, साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद का शोषण, अन्तरिक्ष में मानव की पहुँच आदि ऐसे महत्वपूर्ण घटक पैदा हुए कि व्यवहार और चिंतन के स्तर पर मनुष्य की संवेदना में व्यापक बदलाव आ गया। मनुष्य की धारणाओं में व्यापक बदलाव आया और वह आधुनिक बोध और समकालीनता की सीमाओं से अनुशासित हो गया। अब कुछ भी सनातन या स्थिर नहीं रह गया तथा प्रत्येक मूल्य, विचारधारा आदि संदिग्ध हो गए। इसके साथ ही मनुष्य की महत्वाकांक्षाओं को नई उड़ान मिलने लगी, फलतः कुंठाएं भी अत्यधिक उग्र हो गईं। व्यक्तिवाद हावी हो जाने से सामाजिक संस्थाओं में विकृतियाँ एवं असंगतियाँ आने लगीं और मूल्यों का विघटन होने लगा। व्यक्ति की अस्मिता और सामाजिक सत्ता में गंभीर द्वंद्व पैदा हो गया। दूरसंचार का प्रयोग और प्रभाव बढ़ गया।

- **काव्यानुभूति**

काव्यानुभूति का मूल र्थ है कवि का वह अनुभव जिससे प्रेरित होकर वह काव्य रचना करता है और कविता के माध्यम से उस काव्यानुभव का सम्प्रेषण सामाजिक तक हो जाता है। क्रोचे के अनुसार सहज ज्ञान की स्थिति प्रत्येक मनुष्य में होती है। इसका अर्थ यह है कि क्रोचे हर व्यक्ति को मूलतः कलाकार मानता है। भारत की परंपरा में भी एक प्रवाद चला आ रहा है कि '**मनुष्यो जन्मना कविः**'। परन्तु सभी लोग प्रकट रूप से कवि या कलाकार नहीं हो जाते। इसका समाधान क्रोचे ने यह कहकर दिया है कि सभी व्यक्तियों में सहज ज्ञान की स्थिति एक रहते हुए भी उसमें दृष्टिभेद होता है। कलाकार किसी वस्तु को भीतर से देखता है जबकि सामान्य लोग उसे केवल स्थूल दृष्टि से ही देख पाते हैं।

**क्या आप जानते हैं ?**

**क्रोचे जैसे कुछ ऐसे सौन्दर्यशास्त्री भी हुए हैं जो काव्यानुभव को सर्वथा विलक्षण, अनुपम एवं असम्प्रेषणीय मानते हैं।**

क्रोचे स्पष्ट शब्दों में कहना चाहते हैं कि सहजानुभूति तब कला का रूप ग्रहण करती है जब मन उसमें अच्छी तरह तल्लीन होकर पूर्ण अभिव्यक्ति की क्रिया में एकाग्र बना रहता है। इससे अभिव्यंजना विस्तृत और प्रशस्त बनती है। प्रायः लोग काव्यानुभूति और जीवनानुभूति में भेद करते हैं। क्रोचे को यह मान्य नहीं है। वह इसमें गुणात्मक भेद नहीं परिणामात्मक भेद स्वीकार करता है। क्रोचे जैसे कुछ ऐसे सौन्दर्यशास्त्री भी हुए हैं जो काव्यानुभव को सर्वथा विलक्षण, अनुपम एवं असम्प्रेषणीय मानते हैं। काव्यानुभव के उस वैशिष्ट्य की समस्या के साथ एक अन्य विवाद भी इससे जुड़ा हुआ है जिसका सम्बन्ध लोकानुभूति के परस्पर सम्बन्ध से है। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि काव्यानुभूति लोकोत्तर न होकर लोकानुभूति का ही विशिष्ट रूप होती है। इसके साथ ही काव्यानुभूति और लोकानुभूति में अंतर यह है कि प्रथम सामान्य होती है जिसे सामाजिक मात्र ग्रहण कर सकते हैं और द्वितीय व्यक्ति विशेष की अनुभूति ही होती है। कवि की प्रतिभा या कल्पना ही वह शक्ति है जो उसके व्यक्तिगत अनुभवों को कव्यानुभवों में परिणत कर देती है।

- **लोकमंगल**

**'लोमंगल'** शब्द को विशिष्ट अर्थ प्रदान करने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। वैसे तो आचार्य शुक्ल ने **'लोक'** शब्द का प्रयोग कहीं **'जगत'** के लिए, कहीं **'समाज'** के लिए, कहीं **'मानव-जाति'** के लिए तो कहीं सम्पूर्ण मानवता के लिए किया है। किन्तु जिस

लोक से वे दुःख की छाया हटाना चाहते हैं, निश्चय ही वह दुखी, पीड़ित और गरीबों का लोक है। उनकी लोक संबंधी अवधारणा में भारत की गरीब, पीड़ित, शासित जनता का बिम्ब था। शुक्ल जी के अनुसार –

*"सत और असत, भले और बुरे-दोनों के मेल का नाम संसार है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन, सदा से संसार में रहते आए हैं और सदा रहेंगे।"*

मंगल और अमंगल, सत और असत के संघर्ष में, अंत में सत अपना प्रकाश करता है, इस बात का विश्वास तुलसीदास की भांति ही शुक्ल को भी था। उन्होंने लिखा है –

*"लोक की पीड़ा-बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनंद-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिल लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।"*

जाहिर है, मंगल की सम्यक स्थापना क्षमा, दया आदि साधुता की एकांगी प्रवृत्तियों द्वारा ही संभव नहीं है, क्योंकि बहुत-से-दुष्ट और क्रूर हृदय इन मृदुल प्रवृत्तियों से अप्रभावित रहकर लोक-उत्पीड़न में संलग्न रहते हैं। उनका प्रतिविधान करने के लिए उग्रवृत्तियों का संयत प्रकाशन लोकमंगल की स्थापना के लिए अभीष्ट है।

**चित्र: आचार्य रामचंद्र शुक्ल**

**साभार :** http://hindisamay.com/writer/writer_details_n.aspx?id=1262

शुक्ल जी के अनुसार –

*"क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है वहीं से क्रोध का सौंदर्य आरम्भ होता है। जिसमें विशिष्टों का आदर, दीनों पर दया, दुष्टों के दमन आदि जीवन के अनेक रूपों का सौंदर्य दिखाई पड़ेगा, वहीं सर्वांगपूर्ण लोक-धर्म का मार्ग होगा।"*

मूल बात यह है कि अधर्म वृति को हटाकर धर्म वृति की प्रतिष्ठा के लिए कभी कोमल और मधुर एवं कभी उग्र और प्रचंड प्रयास करने पड़ते हैं। इसीलिए शुक्ल जी की दृष्टि में –

*"भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचंडता और मृदुता का सामंजस्य ही लोक-धर्म का सौन्दर्य है।"*

साहित्य के मूल्यांकन के एक प्रमुख मानदंड के रूप में लोक-मंगल की प्रतिष्ठा शुक्ल जी ने जिस तर्क-श्रृंखला के आधार पर की है, वह बहुत पुष्ट है। सर्वप्रथम उन्होंने यह निरुपित किया कि साहित्य या काव्य का प्रयोजन इसी लोक के भीतर है और उसका लक्ष्य मनुष्य का हृदय है। शुक्ल जी के अनुसार –

"मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या, किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है, एक की अनुभूति को दूसरों के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है।"

एक की अनुभूति को दूसरा सहज रूप में तभी अपनाएगा जब वह उसे अपने अनुरूप भी लगेगी, सुन्दर भी होगी और उनके जीवन को समृद्ध भी करेगी। अतः शुक्ल जी ऐसे व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के विरुद्ध हैं, जिसके अंतर्गत ऐसी अनुभूति की अभिव्यक्ति भी साहित्य में की जाती है जो दूसरे की हो ही न सकती हो। उनके मतानुसार –

*"हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन जो किसी दशा में किसी की हो नहीं सकती, केवल ऊपरी मन-बहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा।"*

एक की अनुभूति दूसरे की अनुभूति तभी हो सकती है जब लोकसामान्य की भावभूमि से लेखक या कवि परिचित हो। शुक्ल जी के अनुसार –

*"सच्चा कवि वही है जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके इसी लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।"*

आचार्य शुक्ल ने **'लोक-मंगल की साधना'** को काव्य की श्रेष्ठता के प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उनका तर्क है कि लोक में मंगल का विधान करने वाले दो भाव हैं – **'करुणा और प्रेम'**। आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि करुणा और प्रेम की लक्ष्य-सिद्धि में सहायक होकर अर्थात् सत्वगुण के अधीन सक्रिय रहकर – क्रोध, भय, घृणा आदि प्रचंड भाव भी सुन्दर हो जाते हैं। उदाहरण के लिए वाल्मीकि रामायण में लोक-पीडक राक्षसराज रावण के प्रति राम का कालाग्नि सदृश क्रोध इसीलिए सुन्दर प्रतीत होता है कि वह करुणा से, लोक-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर उसी की लक्ष्य की पूर्ति के लिए कार्य कर रहा है। रावण की मृत्यु के बाद लोक से दुःख की छाया हट जाती है। लोक, पीड़ा और विघ्न-बाधा से मुक्त हो जाता है और तब रामराज्य की स्थापना होती है।

**क्या आप जानते हैं?**

**आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'रामचरितमानस' को श्रेष्ठतम काव्य इसलिए माना है कि उसमें विरुद्धों का श्रेष्ठतम सामंजस्य है।**

- **विरुद्धों का सामंजस्य**

इसका उल्लेख आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आनंद की साधनावस्था की चर्चा के दौरान की है। आनंद की साधनावस्था का सम्बन्ध काव्य के प्रयत्न पक्ष से है। कर्मक्षेत्र के सौंदर्य को आचार्य शुक्ल ने **'विरुद्धों का सामंजस्य'** कहा है। वे लिखते हैं –

*"लोक में फ़ैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनंदकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचंडता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौंदर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता।"*

**'विरुद्धों का सामंजस्य'** को पारिभाषित करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है –

*"दीन और असहाय जनता को निरंतर पीड़ा पहुंचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा शुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौंदर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं, और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखायी पड़ती है।"*

काव्य के दो पक्ष निर्धारित किए जाते हैं, सौंदर्य पक्ष एवं संघर्ष पक्ष। सौंदर्य पक्ष का सम्बन्ध प्रेम भावना से होता है। **'वात्सल्य', 'रति', 'भ्रातृत्व'** आदि प्रेम के ही विविध रूप हैं। दैनंदिन जीवन, संघर्ष से इतर नहीं होता है। जीवन की इन परिस्थितियों में संघर्ष पक्ष के साथ सौन्दर्य पक्ष का सम्मिलन कर जो काव्य, लोकहित में होता है, वही विरुद्धों के सामंजस्य का उदहारण होता है। **'लोकहित'** में स्वाभाविक रूप से मनुष्य की वे भावनाएं आती हैं, जो **'लोक कल्याण'** यानी मानव जाति के कल्याण को अभिव्यक्त करती हैं। शुक्ल जी ने काव्य की श्रेष्ठता का प्रमाण ही **'विरुद्धों के सामंजस्य'** को माना है। **'रामचरितमानस'** को उन्होंने श्रेष्ठतम काव्य इसलिए माना है कि उसमें विरुद्धों का श्रेष्ठतम सामंजस्य है। जहाँ राम, एक ओर रावण जैसे आतताई से पृथ्वी को मुक्त करने का कार्य करते हैं (संघर्ष) वहीं दूसरी ओर, दांपत्य, भ्रातृत्व सहित समस्त रिश्तों को आदर्शपूर्वक निभाते हैं (प्रेम)।

आचार्य शुक्ल ने आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण के रूप में जिन्हें उद्धृत किया है वे हैं - रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय, हिन्दी में रामचरितमानस, पद्मावत (उत्तरार्ध), हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रासो, छत्रसाल प्रकाश, इत्यादि प्रबंध काव्य, भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत, उर्दू के वीर रसात्मक मरसिये। यूरोपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट ऑफ़ इस्लाम आदि। **'विरोधों का सामंजस्य'** इस साहित्य का सामान्य वैशिष्ट्य है।

- **रूप और वस्तु**

व्यापक अर्थ में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, औचित्य ही रुप हैं। कला निर्मिति में संयोजित उपकरणों की समग्रता रूप है। इसी को कुंतक अलंकार-सहित और अवयव-रहित कहता है। अलंकार (व्यापक अर्थ में) अवयव हैं। किन्तु कलाकृति में संयोजित होकर वे अपनी पृथक सत्ता खो देते हैं और समग्रतः जो आकर ग्रहण करते हैं उनकी चरम परिणति रूप है।

सामान्यतः विभिन्न विधाओं को भी रूप कहा जाता है – नाट्य-रूप, काव्य-रूप, उपन्यास-रूप आदि। पर व्यापक अर्थ में यह **'पैटर्न'** या रीति है। हर विधा का पैटर्न या रीति अलग-अलग होती है। कला के निर्माण में कच्चे माल के रूप में कुछ पदार्थों की जरुरत होती है। कवि भी भाषागत लय, बिम्ब, प्रतीक, मिथक आदि को अपने ढंग से संयोजित करता है – अज्ञेय अपने ढंग से, मुक्तिबोध अपने ढंग से। देशकाल तथा अपनी परिस्थितियों के फलस्वरूप निराला का काव्य-रूप निरंतर बदलता जाता है।

अंततोगत्वा रूप अंगांगि की संगति ही ठहरता है। किन्तु अंगांगि की संगति ही कला-रूप नहीं है। कलात्मक रूप बनने के लिए उसे विशिष्ट होना होता है। दूसरे शब्दों में, कला-रूप की बुनियादी शर्त है कि वह सौंदर्य, लालित्य या विच्छिति से पूर्णतः संपृक्त हो। तकनीकी कौशल की अत्यधिक दक्षता से कला के क्षतिग्रस्त होने की आशंका रहती है। अज्ञेय की परवर्ती कविताओं में इस दक्षता का परिणाम देखा जा सकता है।

रूप की अभिव्यक्ति वस्तु है जो रूप से अलग नहीं है। वस्तुतः जिसका **'पैराफ्रेज'** वस्तु रूप में आद्यंत व्याप्त है। रूप से अलग वस्तु विश्लेश्य नहीं हो पाती। रूप को निचोड़कर वस्तु की प्राप्ति संभव नहीं है। विषय और वस्तु में अलगाव किया जा सकता है। एक ही विषय को लेकर रचना करने वाले विभिन्न व्यक्ति अपने देशकाल, व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, प्रतिभा के आधार पर अलग-अलग वस्तुओं का निर्माण करते हैं।

वस्तु और रूप का द्वंद्वात्मक सम्बन्ध होता है। रचना-प्रक्रिया में दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कभी वस्तु रूप को बदलने के लिए बाध्य करती है तो कभी रूप वस्तु को। यों रचना-प्रक्रिया के मुक्कमल होने के बाद ही रूप रूप और वस्तु वस्तु हो पाती हैं। कलारूप में वस्तु संप्रेषित न होकर अभिव्यक्त होती है। पाठक रूप के माध्यम से ही अभिव्यक्ति को पकड़ता है। रूप पर उसकी पकड़ जितनी मजबूत होगी, अभिव्यक्ति की पकड़ भी उतनी ही मजबूत होगी। यह रूप का करिश्मा है कि पाठक उसमें से अभीप्सित अर्थ निकालता है। कभी-कभी दो पाठक एक-दूसरे के विरोधी अर्थ निकालते हैं। वस्तुतः वे विरोधी नहीं होते, बल्कि रूप की विभिन्न अर्थच्छायाएँ होती हैं।

- **विभावन व्यापार**

**'विभावन'** का अर्थ है – **'विशिष्ट भावन'**। **'भावन'** शब्द के अर्थानुसंधन के लिए **'भाव'** तथा **'विभाव'** पदों के अर्थों पर दृष्टिपात करना उचित होगा। भरत तथा अभिनवगुप्त के अनुसार **'भाव'** शब्द के अर्थ हैं – उत्पत्ति अथवा निष्पादन या संपादन, भावन अर्थात व्यापन तथा बोध। अभिनवगुप्त 'भाव' के अन्य अर्थ स्वादुतानयन, आस्वादनकरण अथवा आस्वादयोग्यीकरण भी मानते हैं। **'विभाव'** का अर्थ भरत, अभिनवगुप्त तथा हेमचन्द्र और मम्मटप्रणीत **'काव्यप्रकाश'** के टीकाकार माणिक्यचंद्र एवं भट्ट सोमेश्वर की दृष्टि में विशिष्ट ज्ञान, भानु मिश्र की दृष्टि में विशिष्ट उत्पादन, विश्वनाथ के अनुसार सामाजिकों के रत्यादिभावों को आस्वादांकुरप्रादुर्भावयोग्य करना और गोविंद के मत से रसास्वदान्कुरयोग्यता है। **'काव्यप्रकाश'** में उद्धृत अभिनवगुप्त के मत, विश्वनाथ तथा विश्वनाथदेव के अनुसार विभावना अथवा विभावन-व्यापार 'विभव' पद का प्रवृत्तिनिमित्त है। **'काव्यप्रकाश'** के टीकाकार के अनुसार विभाव को विभाव इसलिए कहा जाता है कि उसमें विभावन व्यापारात्मक क्षमता है। विभावन का अर्थ है – वासनारूप में स्थित स्थायी आदि भावों को उद्बुद्ध कर आस्वाद्यागोचर बना देना।

हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने थोडा व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है –

*"हमारे यहाँ विभावन व्यापार में जो 'साधारणीकरण' कहा गया है उसके विरुद्ध तो यह सिद्धांत नहीं जाता है।"*

यहाँ विभाव-मात्र के व्यापार तक ही विभावन को सीमित नहीं किया गया है, अपितु रसनिष्पत्ति में अपेक्षित समस्त प्रक्रिया विभावन व्यापार के रूप में कही जा रही है। वैसे आचार्य शुक्ल विभाव पर अधिक बल देते हैं।

**क्या आप जानते हैं ?**

**'काव्यप्रकाश'** के टीकाकार के अनुसार विभाव को विभाव इसलिए कहा जाता है कि उसमें विभावन व्यापारात्मक क्षमता है। विभावन का अर्थ है – वासनारूप में स्थित स्थायी आदि भावों को उद्‌बुद्ध कर आस्वाद्यागोचर बना देना।

- **बिम्ब, प्रतीक और मिथक**

साहित्य में बिम्ब शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो उस उक्ति के लिए जो मन में किसी ऐन्द्रिय प्रभाव की सृष्टि करने वाली प्रतिमा का निर्माण करे, और दूसरे, उस मानस-प्रतिमा के लिए। हिंदी में बिम्ब का दूसरा अर्थ ही प्रचलित है। बिम्ब-सृष्टि का प्रधान साधन है कल्पना; और साध्य है स्पष्ट मूर्त चित्रों के बोध द्वारा गंभीर प्रभाव-प्रेषण। अनुकूल एवं मार्मिक बिम्ब-विधान रचना के प्रभाव को उद्दीप्त कर देता है। बिम्ब के दो प्रकार होते हैं- स्मृत और कल्पित। स्मृत बिम्ब वे मानस-प्रतिमाएं हैं, जो पूर्वदृष्ट वस्तुओं अथवा दृश्यों की स्मृति की चेतना में संचित अवशेष हैं तथा जो समय-समय पर सजग या सहज रूप से मन में पुनः अंकुरित होते रहते हैं। स्मृति के आधार पर बिम्ब-सृष्टि तथा सुन्दर दृश्यों के स्मरण से आनंद-लाभ तो तभी कर सकते हैं, किन्तु यह शक्ति सभी व्यक्तियों में नहीं होती कि वे उन बिम्बों को चित्रोपम वर्णन से दूसरों को भी वैसी ही अनुभूति का आस्वादन करा सकें। यह शक्ति केवल कलाकारों में होती है।

दूसरे प्रकार के बिम्ब वे हैं जिनका निर्माण कल्पना-शक्ति से किया जाता है तथा जो पूर्व-दृष्ट सभी रूपों एवं व्यापारों से भिन्न नवीन एवं मौलिक होते हैं। कलाओं के लिए यह दूसरे प्रकार की बिम्ब-सृष्टि अधिक महत्वपूर्ण है। इसका भी आधार पूर्व अनुभव ही होते हैं; किन्तु विश्लेषण एवं संश्लेषण की मानसिक शक्तियों द्वारा पूर्व-दृष्ट वस्तुओं के गुणों, रूपों एवं व्यापारों के संयोजन से एक नवीन बिम्ब निर्मित हो जाता है। बिम्ब विधान की शक्ति का होना एक बात है और उसके सशक्त चित्रोपम वर्णन से दूसरों में भी वैसी ही बिम्ब-सृष्टि जागृत करना दूसरी बात। इसके लिए साहित्यकार का भाषा पर जबरदस्त अधिकार होना अपेक्षित होता है।

काव्य में प्रायः भाषा को ही अनुभूति के सम्प्रेषण का माध्यम माना जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध में बिम्बों का महत्व भी कम नहीं। बिम्ब भाषा और प्रभाव के बीच की कड़ी है। भाषा सामाजिक के मन में पहले बिम्बों का उदय करती है और फिर प्रभाव का उन्मेष। बिम्ब कवि की कल्पना के प्रतीक ही नहीं, सामाजिक की अनुभूति के व्यंजक भी हैं। काव्य या रचनाकार के स्वभाव के पूर्ण ज्ञान के लिए उसकी बिम्ब-सृष्टि का विश्लेषण अत्यंत उपयोगी होता है। इस तथ्य की ओर सबसे पहले वाल्टर ह्वाइटर ने ध्यान आकृष्ट किया। बिम्ब-विश्लेषण की विषद व्याख्या कैरोलिन एफ. ई. स्पर्जन तथा उसके अनुयायियों में मिलती है। उन्नीसवीं शती के आरम्भ में काव्य-रचना में बिम्ब-सृष्टि का महत्व इतना बढा कि कुछ अंग्रेज तथा अमरीकी कवियों ने **'बिम्बवाद'** का ही प्रवर्तन कर डाला।

भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्द की तीन शक्तियां मानी गई हैं। किसी भी भाषा के शब्दों को प्रायः दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : वाच्यार्थक शब्द, जिनका सम्बन्ध केवल अभिधा-शक्ति से है; और प्रतीकात्मक शब्द, जिनका सम्बन्ध लक्षणा तथा व्यंजना-शक्ति से है। प्रतीकात्मक प्रयोग में एक ही शब्द अथवा शब्द-चित्र के द्वारा दो विभिन्न अनुभूतियों अथवा विचारों का समन्वित रूप उपस्थित होता है। शब्दों का प्रतीकात्मक व्यवहार हमारे प्राचीन साहित्य की ही नहीं, वरन ग्रीक लैटिन तथा मध्यकालीन यूरोपीय साहित्य की भी विशेषता है। ऐसे उदहारण भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मानव की कल्पना एवं अनुभूति देश-काल की सीमाओं से मुक्त है।

यदि आदिकालीन एवं पुरातन साहित्य की आधुनिक साहित्य से तुलना की जाय तो प्रतीत होगा कि विज्ञान एवं दर्शन के प्रभाव के कारण आधुनिक साहित्य में शब्दों का वाच्यार्थक प्रयोग अधिक होता जा रहा है और प्रतीकात्मक प्रयोग का प्रायः क्षय हो रहा है। पुरातन मानव की अनुभूतियाँ और कल्पना-विलास सदा मूर्त प्रतीक की खोज में रहते थे। इसके विपरीत वर्तमान मानव अमूर्त परिकल्पनाओं में प्रवाहित हो रहा है। विज्ञानवादी भाषाशास्त्रियों तथा आलोचकों ने तो यहाँ तक भी आक्षेप किया है कि पुरातन साहित्य में भी शब्दों का केवल वाच्यार्थक प्रयोग किया जाता था और उन पर लाक्षणिक एवं व्यंजक अर्थों का आरोप बाद में किया गया है। इसके अनुसार आदि मानव में मूर्त दृश्यों तथा व्यापारों को चित्रित करने की विशेष क्षमता तो थी किन्तु अमूर्त चिंतन की नहीं। अतएव मूर्त प्रतीक के द्वारा अमूर्त भाव को व्यक्त करने तथा मूर्त एवं अमूर्त का समन्वय उपस्थित करने की समस्या ही नहीं उठती। किन्तु पुरातन

मानव के सम्बन्ध में इस प्रकार का दृष्टिकोण भ्रांत प्रतीत होता है। दर्शन, काव्य तथा धर्म के क्षेत्र में पुरातन का योगदान ही अधिक है। नृवैज्ञानिक का मत भी इस दृष्टिकोण का खंडन करता है।

प्रतीकात्मक प्रयोग दो प्रकार के हो सकते हैं। प्रथम प्रकार का प्रयोग वह है जो परंपरा-सम्मत होने के कारण प्रायः अवैयक्तिक हो गया है। रथ, सूत्र, अग्नि-ज्वाला, आलोक, रात्रि आदि शब्दों की लाक्षणिक एवं व्यंजक शक्तियां इन शब्दों के इतिहास तथा परंपरागत प्रयोगों का अंग हो गई हैं और उनका अवैयक्तिकरण हो गया है। द्वितीय प्रकार के प्रयोग, जो अतिवैयक्तिक हैं प्रतीकवादी कविता का आधार हैं।

उन्नीसवीं शती के फ्रांसीसी साहित्य में विज्ञान-सम्मत यथार्थवाद तथा विवेकवाद की प्रवृतियाँ बहुत प्रबल हो रही थीं। फलस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में दर्शन तथा विज्ञान की अमूर्तता तथा निर्दिष्टता के गुण तो आ रहे थे किन्तु साहित्य की अन्य शक्तियों का क्षय हो रहा था। मानव-जीवन के स्वप्नों तथा मानव-संसार के रहस्यों का अन्वेषण तथा जीवन की अनुभूतियों का चित्रण ही साहित्य का प्रमुख विषय रहा है। तत्कालीन साहित्य में रहस्यात्मकता एवं अनिर्दिष्टता का प्रायः ह्रास ही हो गया था। 1886 ई. में 'फिगारो' नाम की पत्रिका में कुछ लेखकों ने साहित्य की इन प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए अपने प्रतीकवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार साहित्य में शब्दों का वाच्यार्थक नहीं वरन प्रतीकात्मक प्रयोग करना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में शब्दों का धर्म निश्चित वस्तु अथवा अमूर्त विचार को सूचित करना नहीं वरन मनःस्थिति की ओर इंगित करना है।

फ़्रांस की प्रतीकवादी कविता की हमारी रहस्यवादी तथा छायावादी कविता से तुलना की जा सकती है। इस कविता में मूर्त प्रतीकों द्वारा अमूर्त रहस्यों की ओर संकेत किया जाता है। साथ ही मूर्त-अमूर्त तथा दृश्य-अदृश्य का समन्वय उपस्थित किया जाता है। यद्यपि फ़्रांस के इन कवियों तथा इनसे प्रभावित होकर लिखने वाले अन्य देश के कवियों की कविता को प्रतीकवादी नाम से अभिहित किया जाता है, तो भी साहित्य में भाषा का प्रतीकात्मक प्रयोग अतिप्राचीन है। उपनिषद्, प्लेटो के संवाद दांते का काव्य तथा पश्चिम के ईसाई संतों की कविता – इन सबका प्रतीकवादी साहित्य कहा जा सकता है। प्रतीकवादी कवि मूर्त वस्तुओं अथवा दृश्य व्यापारों का प्रतीकात्मक चित्रण करते हुए अपनी आंतरिक अनुभूतियों को ही व्यक्त करने की चेष्टा करता है। मूर्त और अमूर्त का समन्वय उपस्थित करते हुए वह सत्य-संधान के पथ पर अग्रसर होता है।

**क्या आप जानते हैं?**

**'माइथोलोजी' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'म्युथोस' से हुई है, जिसका प्रयोग किसी भी प्रकार की कथा के लिए किया जाता था।**

अब जहाँ तक मिथक का प्रश्न है तो कोई ऐसी कथा जो विचारना एवं आलोचना-शक्ति से सर्वथा शून्य आदिम चेतना की स्वयंस्फूर्त उद्भावना हो और जिसमें प्रकृति की शक्तियों का देहधारी या अर्धदैहिक रूपों में प्रतिनिधान किया गया हो, जो अतिप्राकृतिक एवं अतिमानवीय कार्य संपन्न करते हों। आधुनिक काल में बुरे अर्थ का द्योतन करने के निमित्त इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है और यह **'कपोल-कल्पना'** का पर्याय-सा बन गया है। इधर मिथक का महत्व बहुत बढ़ा है और उसके आधार पर श्रेष्ठ काव्यों यथा धर्मवीर भारती कृत **'अंधायुग'** की सर्जना हुई है।

मिथक लोकमानस की सर्जना है और उसमें लचीलापन होता है, इसलिए हर युग में प्रतिभाशाली कवि मिथकों का शक्तिशाली उपयोग करता हुआ समकालीन संवेदना को और मानव-अस्मिता के मूलभूत प्रश्नों को व्यक्त करता है। और इसीलिए इधर मिथकीय आलोचना का भी विकास हुआ है जो साहित्य समीक्षा के साथ-साथ मानवविज्ञान एवं समाजशास्त्र आदि का उपयोग भी करती है।

**'माइथोलोजी'** शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द **'म्युथोस'** से हुई है, जिसका प्रयोग किसी भी प्रकार की कथा के लिए किया जाता था। लोक-कथाओं अथवा परी-कथाओं के लिए भी यही शब्द प्रयुक्त होता किन्तु शीघ्र ही इस शब्द को एक विशिष्ट अर्थ दे दिया गया। प्लेटो ने इस शब्द का प्रयोग प्रायः उसी अर्थ में किया, जिसमें आज हम करते हैं। धर्मगाथा और अन्य कथाओं में मूल भेद विषय का है, किसी शैलीगत गुण का नहीं।

- **फैंटेसी और भावाभास**

इस शब्द ने समकालीन साहित्य में एवं समीक्षा-शास्त्र में जो विशिष्ट अर्थ ग्रहण कर लिया है, उसकी व्याख्या शब्द की व्युत्पत्ति एवं इतिहास के आधार पर करना प्रायः असंभव है। अरस्तू ने अपने **'काव्यशास्त्र'** में कवि को परामर्श दिया था कि उसे **'असम्भाव्य संभावनाओं'** की अपेक्षा **'संभाव्य असंभावनाओं'** को प्राथमिकता देनी चाहिए। स्वप्न-चित्रमूलक साहित्य और अन्य साहित्य-रूपों में यह अंतर मुख्य है कि इस प्रकार के साहित्य में अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के सर्वथा प्रतिकूल **'असम्भाव्य संभावनाओं'** की अपेक्षा **'संभाव्य असंभावनाओं'** को ही प्राथमिकता दी जाती है।

**चित्र : मुक्तिबोध**

**साभार :**

http://hi.bharatdiscovery.org/india/%E0%A4%97%E0%A4%9C%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A4%A8_%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%A7%E0%A4%B5_%27%E0%A4%AE%E0%A5%81%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%A4%E0%A4%BF%E0%A4%AC%E0%A5%8B%E0%A4%A7%27

हिंदी में कवि मुक्तिबोध ने फैंटेसी का प्रयोग एक नए तेवर के साथ किया है जहाँ वह ऊपर से तो एक विश्रृंखल रचना प्रतीत होती है तथा असम्भाव्य घटनाओं को अपने में समाहित करती है मगर एक गंभीर अन्विति होती है। इन असम्भाव्य घटनाओं के वर्णन के द्वारा कविता में नाटकीयता एवं कौतुहूल को सृजन करने में सहायता मिलती है तथा कविता एक ख़ास तरह का चमत्कार पैदा करती हुई अपने अनुभव को प्रकाशित करती है। मगर साथ ही फैंटेसी का यह प्रयोग कविता को जटिल एवं दुरूह भी बना देता है, वैसे ही जैसे संतों के कूट पदों में संध्याभाषा के प्रयोग से चमत्कार के साथ-साथ दुरुहता भी उत्पन्न हो जाती है।

भावाभास का जिक्र भारतीय काव्यशास्त्रों में **'रस'** के विवेचन के संदर्भ में आता है। इस सन्दर्भ में हमारे प्राचीन आचार्य आचार्य रसाभास एवं भावाभास पर विचार करते पाए जाते हैं। जब अनुचित और असंगत रीति से रस का प्रयोग किया जाता है तो अनौचित्य के कारण रस विरस हो जाता है। अतः उसे रसाभास की संज्ञा दी गई। और जब रसाभास भंग होकर भाव आते हैं तब उन्हें भावाभास कहा जाएगा।

वस्तुतः यह भावाभास कहीं-न-कहीं फैंटेसी से जुड़ता दिखाई पड़ता है। फैंटेसी की अनगढ़ता, दुरुहता, रचना के भाव को सरल नहीं रहने देती, भारतीय शास्त्रीय परंपरा में इसे रसाभास या भावाभास कहा गया है; जहाँ पाठक सहज महसूस नहीं करते। भाव का प्रवाह बाधित होता है। जीवन की जटिलताओं एवं यथार्थ की क्रूरता को व्यक्त करने की शैली अब इतनी सरल व सहज नहीं रह गई है कि **'रस-सिद्धांत'** इसकी व्याख्या कर सके। अतः भावाभास और फैंटेसी ही इस क्रूर यथार्थ की अभिव्यक्ति के साधन हो सकते हैं।

- **विसंगति और विडम्बना**

विसंगति काव्य को समृद्ध करने वाला तत्व है जो परस्पर विरोधी लगने वाले स्थितियों के संयोजन से निर्मित होता है। विसंगति में शब्द के लक्षणा और व्यंजना व्यापार सक्रिय होते हैं। इससे रचना की भाषा में संक्षिप्तता आती है और वह अधिक सटीक बनती है। वैसे अकस्मात् एक हल्की बात कहकर गंभीरता को झटके से तोड़ने की प्रवृत्ति है विसंगति और विडम्बना है।

विडम्बना के लिए अंग्रेजी में **'ऑयरनी'** शब्द प्रयुक्त होता है। **'ऑयरनी'** शब्द ग्रीक शब्द **'ईरोनिया'** से बना है। यूनानी कामदी का एक पात्र **'ईरोन'** अपने आचरण और भाषण की पद्धति के लिए विख्यात था। उसके आचरण और संभाषण की रीति को **'ईरोनिया'** कहा जाता था। इस तरह **'आयरनी'** शब्द का लाक्षणिक प्रयोग साहित्य में गृहीत हुआ।

प्रयोग के आधार पर विडम्बना के कई रूप मिलते हैं। विडम्बना का एक रूप शाब्दिक विडम्बना भी होता है। शाब्दिक विडम्बना में कोई पात्र जाने-अनजाने ऐसा कथन प्रस्तुत करता है, जो कालांतर में प्रस्तुत अर्थ से विपरीत अर्थ में अंतर्घटित हो जाए। विडम्बना एक ऐसी खाई है जो खोदी दूसरों के लिए जाती है किन्तु खोदने वाला स्वयं गिरकर विनाश को प्राप्त होता है। भाग्य की विडम्बना नाटक में ऐसी स्थितियों का रेखांकन होता है जो नायक के लिए भाग्यवश या दैवयोग से अचानक पतन के लिए उत्तरदायी होता है। नाटकीय विडम्बना कथानक की संरचना में गुम्फित होती है। दर्शक नायक के त्रासिक अंत से परिचित रहते हैं किन्तु नायक अज्ञानवश अपने क्रियाव्यपार से त्रासिक अंत की ओर अग्रसर होता है और अंततः पतित होता है। व्यंग्योक्ति या कटूक्ति सभी प्रकार की विडंबनाओं में विद्यमान रहती है। इस तरह **'विडम्बना'** शब्द एक ऐसा पारिभाषिक शब्द है जिसके कई रूप मिलते हैं।

नयी समीक्षा से जुड़े समीक्षकों ने विडम्बना का कई तरह से अर्थ विस्तार किया है। उनकी दृष्टि में विडम्बना संरचना में विरोधी स्थितियों को साथ-साथ रखना है। इस तरह **'विडम्बना'** कई प्रकार की साहित्यिक युक्तियों के रूप में प्रयुक्त एक विशिष्ट साहित्यगत प्रत्यय ठहरती है। विस्मय असमंजस, नाटकीय विडम्बना आदि नाट्यशिल्प के महत्वपूर्ण तत्त्व हैं, जिनकी सहायता से नाटक के अंत तक कुतूहल और रहस्यात्मकता का निर्वाह होता है और दर्शकों का आकर्षण और जिज्ञासा बराबर बनी रहती है। नामवर सिंह के अनुसार लक्ष्मीकांत वर्मा को इस बात के लिए श्रेय देना होगा कि उन्होंने कविता के अंतर्गत विसंगति, विडम्बना, विद्रूप आदि के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने के लिए 'ताजी कविता' के नाम से एक आन्दोलन चलाने का भी संकल्प किया।

**क्या आप जानते हैं?**

**विडम्बना के लिए अंग्रेजी में 'ऑयरनी' शब्द प्रयुक्त होता है। 'ऑयरनी' शब्द ग्रीक शब्द 'ईरोनिया' से बना है। यूनानी कामदी का एक पात्र 'ईरोन' अपने आचरण और भाषण की पद्धति के लिए विख्यात था। उसके आचरण और संभाषण की रीति को 'ईरोनिया' कहा जाता था। इस तरह 'ऑयरनी' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग साहित्य में गृहीत हुआ।**

आज के जटिल जीवनबोध को अभिव्यक्त करने की एक सशक्त साहित्यिक प्रविधि के रूप में विडम्बना का महत्वपूर्ण स्थान है। व्यंग्य, विनोद, कटूक्ति, हास्य आदि को इसमें समाहित तो किया जा सकता है, पर विडम्बना इनसे अधिक व्यापक और गंभीर है। इसमें शब्दों का ऐसा कौतूकपरक संयोजन होता है कि शब्द और सन्दर्भ में दूरी दिखाई पड़ने लगती है। यह क्रीड़ापरक भी होता है और गंभीर भी। लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार –

*"शब्दों, बिम्बों और उनके साथ स्थितियों के चयन और संयोजन में **'शरारतपूर्ण सह-संयोजन'** होना चाहिए।... जब शब्दों के प्रति तथ्य-दृष्टि न हो और अर्थों के प्रति व्यामोह हो तो इनसे उबरने के लिए कुछ **'शरारतें'** करनी चाहिए।"*

हिंदी में ऐसी अनेक रचनाएं हैं जो अपनी नाटकीयता में विडम्बना का श्रेष्ठ उदाहरण बन जाती हैं। आज के जीवन की त्रासदी को उसकी पूरी जटिलता में उभारने के लिए यह प्रविधि अत्यंत कारगर है। यथा- निराला और मुक्तिबोध की रचनाएँ, प्रेमचंद की कफ़न आदि कहानियाँ, अंधायुग आदि।

नामवर सिंह जी ने रघुवीर सहाय की एक कविता **'शराब के बाद सवेरा'** – के द्वारा इसे विस्तार से समझाने का प्रयास किया है –

*' जन्म के कितने दिनों बाद आई थी*
*वह मेरी मरी हुई माँ।*
*जो महान मकान बना है पड़ोस में*
*वह मुझ पर गिर पडेगा*

*फिर मेरी गर्मियों की छुट्टियां हो जाएँगी*
*मेरे अपने स्कूल के अन्दर से निकलकर*
*बचपन के आख़िरी दिन*
*आएँगे घर के कोने में*
*कहानियों की आलमारी की खुशबू*
*और ठंडा चिकना फर्श*
*मलबे के तले से एक हाथ छुड़ाकर*
*उसे टोता हूँ। ढ नहीं ट।'*

यहाँ **'ढ'** नहीं **'ट'** क्या सचमुच सिर्फ खिलवाड़ है ? शराब की बेहोशी में जिसे अपनी माँ याद आ रही है और उसे ऐसा लगता है कि पड़ोस का 'महान' मकान उस पर गिर पड़ेगा , क्या वह खिलवाड़ करने की स्थिति में है ? इस कविता के पूरे सन्दर्भ से स्पष्ट है कि यह खिलवाड़ जैसे लगनेवाली हरकत की तह में एक गहरी व्यथा है।

- **सपाटबयानी**

यह शब्द नई कविता की समीक्षा के दौरान प्रचलन में आया। **'नई कविता के प्रतिमान'** नामक ग्रंथ में नामवर सिंह ने अपने निबंध **'काव्यबिम्ब और सपाटबयानी'** में सपाटबयानी के महत्त्व को रेखांकित किया है। उन्होंने बिम्बों से बोझिल होती नई कविता को उससे मुक्त करने की जरुरत पर विस्तार से चर्चा की है और इसी सन्दर्भ में उसमें प्रवाह और सहजता लाने के लिए सपाटबयानी की आवश्यकता पर जोर दिया है। इस तरह सपाटबयानी को भी उन्होंने नई कविता के एक प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। दरअसल बिम्बविधान श्रेष्ठ कविता के एक प्रमुख प्रतिमान के रूप में हमेशा से प्रतिष्ठित रहा है। आचार्य शुक्ल ने तो दो टूक शब्दों में कहा है कि –

*"कवि का काम बिम्ब ग्रहण कराना होता है अर्थग्रहण नहीं।"*

नई कविता अपने विकास क्रम में बिम्बों पर कुछ अधिक निर्भर होती गई। कविता में सबसे अधिक ध्यान बिम्ब पर देने की घोषणा करने वाले कवि केदारनाथ सिंह ने लिखा है –

*"मैं बिम्ब निर्माण की प्रक्रिया पर जोर इसलिए दे रहा हूँ कि आज काव्य के मूल्यांकन का प्रतिमान लगभग वही मान लिया गया है। एक अंग्रेज आलोचक का तो यहाँ तक कहना है कि आधुनिक कवि नए-नए बिम्बों की योजना के द्वारा ही अपनी नागरिकता का शुल्क अदा करता है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन काव्य में जो स्थान चरित्र का था आज की कविता में वही स्थान बिम्ब अथवा इमेज का है।"*

नामवर सिंह ने 1963 में ज्ञानोदय में लिखा –

*"आज की कविता अपनी प्रकृति में अब तक की बिम्ब प्रधान कविता से सर्वथा भिन्न है। अथवा उसका झुकाव बिम्ब भिन्न है। कवियों का संभवतः कुछ ऐसा विश्वास हो चला है कि बिम्ब-विधान सीधे सत्य कथन के लिए बाधक है। इधर की अधिकांश बिम्बवादी कविताओं को देखते हुए यह आशंका एकदम असंगत नहीं लगती। इसे विरोधाभास ही कहना चाहिए कि जब से कविता में बिम्बों की प्रवृत्ति बढ़ी, सामाजिक जीवन के सजीव चित्र दुर्लभ हो चले। सुन्दर बिम्बों के चयन की ओर कवियों की ऐसी वृति हुई कि प्रस्तुत गौण हो गया और अप्रस्तुत प्रधान। इस तरह कवि की दृष्टि ही संकुचित नहीं हुई, कविता का दायरा भी सीमित हो गया – पहले जीवन से खिंचकर प्रकृति की ओर, फिर प्रकृति में भी विशेष प्रकार के रमणीय की ओर, यहाँ तक कि वातावरण का संकेत देने वाले बिम्ब भी सिमटकर एक कमरे की वस्तुओं के रूप में रह गए।... यदि इतने पर भी इस कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया न होती तो विनाश निश्चित था - विनाश सामाजिकता और मानवीयता का ही नहीं, बुद्धि, हृदय और सृजनशीलता का भी।"*

नामवर जी के अनुसार छठे दशक के अंत और सातवें दशक के आरम्भ में सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो उठी कि उसकी चुनौती के सामने बिम्ब-विधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत होने लगा। जिस प्रकार 36 तक आते-आते स्वयं छायावादी कवियों को भी सुन्दर शब्दों और चित्रों से लदी हुई कविता निस्सार लगने लगी, उसी प्रकार 60 के आस-पास नई कविता की बिम्बधर्मिता

की निरर्थकता का एहसास होने लगा। समस्या परिस्थितियों के सीधे साक्षात्कार की थी, प्रश्न हर चीज को उसके सही नाम से पुकारने का था।

अशोक वाजपेयी ने 1968 के **'धर्मयुग'** में श्रीकांत वर्मा के दो काव्य संग्रहों **'माया दर्पण'** और **'दिनारम्भ'** की समीक्षा करते हुए इस प्रवृत्ति को **'सपाटबयानी'** कहा। उन्होंने लिखा –

*"नई कविता बिम्ब केन्द्रित रही है और अक्सर कवियों में बिम्ब का ऐसा घटाटोप तैयार हुआ कि सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से मुक्त कराके ही उसे जीवंत और प्रासंगिक रखा जा सकता है। उनके सामने बिम्ब प्रधान कविता कुछ शक की चीज बन गई और सपाटबयानी की तरफ कई कवि झुके और उसे विश्वसनीय माना जाने लगा।"*

इसी क्रम में रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और श्रीकांत वर्मा, तीन कवियों का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए उन्होंने आगे कहा है –

*"उनमें से हर एक ने सपाटबयानी के मूल्य को पहचाना लेकिन उसे अपनी बुनियादी बिम्बधार्मिता के प्रतिकूल न रखकर उसे उसके साथ संयोजित किया और अपने मुहावरों को और उनसे उजागर होने वाले काव्य-संसार को समृद्ध किया। चित्रमयता को खोए बिना उसे रोजमर्रा की जीवन्तता दी।"*

**चित्र : नामवर सिंह**

**साभार :** http://www.vaniprakashan.in/authdetails.php?wid=221

नामवर जी ने लक्ष्य किया है कि बिम्बों की भाषा से चिढ इस बीच इतनी बढ़ गई कि अनेक कवि और आलोचक 'नंगी' भाषा के लिए आग्रहशील हो उठे। **'ताजी कविता'** का नारा देते हुए लक्ष्मीकांत वर्मा ने यहाँ तक कहा कि –

*"बिम्बों की यह निरर्थकता ही हमें अब **'नंगे'** शब्दों की ओर ले जा रही है – आवरणहीन, सज्जाहीन, संस्कारहीन और इन सबसे अधिक ऐसा नंगापन जिसमें आभिजात्य जंगलीपन के ऊपर एक समयबोध की छाप लगा सके।"*

कविता में सपाटबयानी का यह आग्रह वस्तुतः गद्य सुलभ जीवंत वाक्य-विन्यास को पुनःप्रतिष्ठित करने का प्रयास था, जिसके मार्ग में बिम्बवादी रुझान निश्चित रूप से बाधक हो रहा था। नामवर सिंह जी के अनुसार अंग्रेजी कविता में बिम्ब-प्रतीकवाद के विरुद्ध इसी प्रकार की तीखी प्रतिक्रिया छठे दशक के आरम्भ में हुई थी जिसे सैद्धांतिक रूप देने का श्रेय कवि-आलोचक डोनाल्ड डेवी को है। नामवर जी ने निष्कर्ष देते हुए कहा कि कविता बिम्ब का पर्याय नहीं है, सामान्यतः जिसे बिम्ब कहा जाता है उसके बिना भी कविताएँ लिखी गई हैं और वे बिम्बधर्मी कविताओं से किसी भी तरह कम अच्छी नहीं कही जा सकतीं। इस सन्दर्भ में नामवर जी ने आगे लिखा है –

*" कविता में बिम्ब-रचना सदैव वास्तविकता को मूर्त ही नहीं करती, कभी-कभी वह वास्तविकता का अमूर्तन भी करती है। कविता में बिम्ब वास्तविकता के साक्षात्कार का ही सूचक नहीं होता, प्रायः वह वास्तविकता से बचने का एक ढंग भी रहा है। काव्य-भाषा के लिए भी प्रायः बिम्ब योजना हानिकारक सिद्ध हुई है। बिम्बों के कारण कविता बोलचाल की भाषा से अक्सर दूर हटी है, बोलचाल की सहज लय खंडित हुई है, वाक्य विन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अंतर्गत क्रियाएं उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का*

*अनावश्यक भार बढ़ा है और काव्य कथ्य की ताकत कम हुई है। इन कमजोरियों को दूर करने के लिए ही कविता में तथाकथित सपाटबयानी अपनाई जा रही है, जिसमें फिलहाल काफी संभावनाएं दिखाई पड़ती हैं।"*

- **सहानुभूति और स्वानुभूति**

अस्मिता विमर्श हिंदी साहित्य में दलित विमर्श, स्त्री विमर्श और आदिवासी विमर्श के रूप में सामने आया। इनमें से दलित विमर्श और स्त्री विमर्श बड़ी तेजी से उभरे हैं जबकि आदिवासी विमर्श उनकी तुलना में अभी पीछे-पीछे है। हालाँकि हाल के वर्षों में इस दिशा में भी काफी कार्य हुए हैं। दलित विमर्श की पृष्ठभूमि में ज्योतिबा फूले, पेरियार, अम्बेडकर और मराठवाडा एवं अन्य जगहों पर हुए आंदोलन हैं। इसी तरह यूरोपीय स्त्रीवादी उभार और भारत में स्त्रियों के आन्दोलन स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि में मौजूद हैं। इन पृष्ठभूमियों के कारण जहां ये आन्दोलन पिछडे और शोषित तबके के पक्ष में सामाजिक बदलाव की मांग उठानेवाले हैं, वहीं विभिन्न परिस्थितियों के कारण उक्त अस्मिताओं में अस्मितावाद का आग्रह भी रहा। दलित विमर्श में **'स्वानुभूति'** और **'सहानुभूति'** की बहस के केंद्र में भी यही अस्मितावाद है । अस्मितावाद का आग्रह स्वानुभूति पर बल देता है।

**चित्र : ओमप्रकाश वाल्मीकि**

**साभार:** http://pratilipi.in/om-prakash-valmiki/

इस संदर्भ में स्वानुभूति का अर्थ भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति होता है। इस भोगे हुए यथार्थ का मतलब है रचनाकार द्वारा अपनी अस्मिता की चेतना द्वारा अपने बारे में लिखना या उस वर्ग के बारे में लिखना, जिससे वे संबंध रखती है। अर्थात् दलित वर्ग के बारे में दलितों द्वारा और स्त्रियों के बारे में स्त्रियों द्वारा ही लिखा जाना स्वानुभूति है तथा इसके बजाए किसी और वर्ग या जेंडर के व्यक्ति द्वारा इनके बारे में लिखा जाना सहानुभूति है। इन अस्मिताओं में दलित विमर्श में स्वानुभूति पर बल स्पष्ट दिखाई पड़ता है। दलित साहित्यकारों का मानना है कि दलितों ने अपने लिए जो पीड़ाएं भोगीं, उनका बयान वे स्वयं ही सच्चाई के साथ कर सकते हैं, क्योंकि यह उनका भोगा हुआ यथार्थ है, जिसमें अनुभूति की सच्चाई होती है और वो जिस अपमान व पीड़ा का बयान करते हैं, उसे सहानुभूति से व्यक्त नहीं किया जा सकता।

कुछ साहित्यकार इसी तरह स्वानुभूति को दलित साहित्य का निकष मानते हैं, जबकि कुछ अन्य साहित्यकार स्वानुभूति के साथ परानुभूति को भी समाविष्ट करना चाहते हैं, दलित साहित्यकार जिसे सहानुभूति का साहित्य कहकर खारिज कर देते हैं। कुछ गैर-दलित साहित्यकारों ने भी उनके इस दावे को स्वीकार किया है।

स्वानुभूति के समर्थक पक्ष का मानना है कि किसी दलित के लिए दलित साहित्य लिखना भोगे हुए यथार्थ का बयान करना होता है, जिसमें अनुभूति की सच्चाई होती है और जो अपमान और पीड़ा का जिस तरह बयान करता है, उसे वे लोग नहीं कर सकते हैं, जिन्होंने उसे भोगा नहीं है। दलित साहित्य की इस मान्यता पर कई पक्ष और विपक्ष के मत सामने आए। नामवर सिंह ने एक बार कहा था –

*"गैर-दलित दलित साहित्य लिखते हैं तो उस पर कोई रोकथाम तो की नहीं जा सकती, बल्कि उसका स्वागत करना चाहिए। परन्तु दलित जो अनुभव करता है, गैर-दलित से निश्चित रूपेण भिन्न होगा। इतिहास के इन मूक नायकों की लेखनी का स्वागत किया जाना चाहिए।"*

इस सन्दर्भ में स्वानुभूति के पक्ष में अपनी बात रखते हुए मैनेजर पाण्डेय ने कहा था, 'राख ही जानती है जलने का अनुभव'। वे कहते हैं -

*"दलित साहित्य के माध्यम से उस जन समुदाय की अपनी आवाज हिन्दी साहित्य में सुनाई दे रही है जिनको साहित्य की दुनिया में स्वयं को बोलने का अधिकार लगभग अब तक नहीं रहा है। उनके शोषण और दमन, सुख-दुख या यातना और पीड़ा, संघर्ष में पराजय और विजय के बारे में दूसरे की बोलते रहे हैं। इस तरह दलित समुदाय की प्रामाणिक आवाज बनकर दलित साहित्य हिन्दी साहित्य का लोकतंत्रीकरण कर रहा है।"*

जब वे दलित समुदाय की प्रामाणिक आवाज की बात करते हैं, तो उनका आशय अनुभव की प्रामाणिकता से ही है। नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय के विचारों से स्पष्ट है कि वे स्वानुभूति संबंधी दलित दावे को स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, वे इसे गैर-दलितों के अनुभवों से भिन्न मानते हैं, जबकि डॉ. पी.एन. सिंह स्वानुभूति संबंधी दलित दावे को अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं -

*"बार-बार यह अहसास होता है कि दलित साहित्य अब कथात्मक थकान का शिकार है। संभवतः स्वानुभूति में सिकुड़े रहने का यह परिणाम है। इस लक्ष्मण रेखा ने अन्यों के अनुभवों एवं संवेदनशीलताओं के प्रति इसे उदासीन बनाया है। यहां पर कोई बड़ी उपलब्धि सामने नहीं है। उपन्यास और नाटक के लिए कल्पना और अनुभव का जो विस्तीर्ण फलक और निर्वैयक्तिकता चाहिए वह अभी इसके पास नहीं है।"*

स्वानुभूति और सहानुभूति की यह बहस स्त्री साहित्य में भी लगातार केंद्र में रही है। लेकिन स्वानुभूति के तर्क पर श्रीधर पाठक, निराला, प्रेमचंद, नागार्जुन आदि साहित्यकारों को सिरे से खारिज किया जाना कितना उचित है यह भी विचारणीय है। दरअसल साहित्य लेखन में मुख्य बात संवेदनशीलता एवं कल्पना की उर्वरता की होती है। लेखक दलित ही हो परन्तु उसमें संवेदनशीलता एवं उर्वर कल्पना की कमी हो तो वह न तो दलित पात्रों के साथ न्याय कर पायेगा, न सवर्ण पात्रों के साथ ही। संवेदनशीलता की इसी व्यापकता को दलित लेखक **'सहानुभूति'** का नाम देते हैं। परन्तु दोनों में काफी अन्तर है। **'सहानुभूति'** में करूणा का भाव है, परन्तु **'संवेदनशीलता'** में सहानुभूति का भाव हैं। संवेदनशीलता का यही व्यापक भाव प्रेमचंद को **'दो बैलों की कथा'** जैसी मार्मिक कहानी लिखने को प्रेरित करता है। उक्त कहानी में बैलों की मूल व्यथा एवं विवशता का मार्मिक चित्रण प्रेमचंद जैसे सहृदयता एवं संवेदनशीलता के पूर्ण साहित्याकार ही कर सकता है। जब कोई लेखक पशु एवं जड़ जगत का हृदयस्पर्शी एवं स्वानुभूति पूर्ण वर्णन कर सकता है तो भला दलित व्यक्ति के जीवन का दर्द भरा वर्णन स्वानुभूति एवं संवेदना के आधार पर क्यों नहीं कर सकता? क्या **'ईदगाह'** जैसी बाल मनोविज्ञान से सम्पन्न कहानी लिखने के लिए एक प्रौढ़ लेखक को पुनः बालक बनना होगा?

जिस प्रकार **'दलित विमर्श'** को दो भागों में विभाजित किया जाता है- एक गैर दलितों द्वारा लिखा गया दलित साहित्य और दूसरा दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य। ठीक इसी प्रकार स्त्री लेखन को भी दो भागों विभाजित कर सकते हैं- पहला पुरुषों द्वारा लिखित स्त्री लेखन और दूसरा स्वयं स्त्रियों द्वारा किया गया स्त्री लेखन। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पहला स्वानुभूति द्वारा रचित स्त्री लेखन/साहित्य और दूसरा सहानुभूति द्वारा रचित स्त्री लेखन। दलित विमर्श की भांति ही स्त्री विमर्श भी सहानुभूति और स्वानुभूति को लेकर चर्चा में रहता है।

हालांकि आरम्भ से ही भारतीय साहित्य में नारी, लेखन की एक सशक्त धारा रही है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों (जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, अज्ञेय, भगवतीशरण वर्मा आदि) ने नारी को अपने साहित्य का मुख्य विषय बनाया। परन्तु इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि जिस प्रकार पुरुषवादी समाज ने स्त्रियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया है उसी प्रकार ही समकालीन साहित्यकार भी खुद को पुरुषवादी मानसिकता से बाहर नहीं निकाल पाए। वह दलितों और नारियों का वास्तविक परिचय नहीं करा

पाए। इसके फलस्वरुप ही **'दलित विमर्श'** और **'स्त्री विमर्श'** का जन्म हुआ। इस संदर्भ में धीरजभाई वणकर कहते हैं कि **'अंगारे को चिमटे से पकड़ना और बात है तथा हाथ में पकड़ना और बात'**। यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट है कि अपनी पीड़ा व वेदना की सटीक अभिव्यक्ति वे ही कर सकते हैं, जिसने उसको भोगा हो। अन्य तो इस पीड़ा/दर्द/तकलीफ को सही रुप में नहीं समझ सकते।

दलित लेखक की यह मान्यता है कि स्वयं दलित ही दलित जीवन पर लिख सकता है। हिन्दी के अधिकांश लेखकों ने इस बात का गहरा प्रतिवाद किया कि दलित ही दलित लेखन कर सकता है। यह तर्क कई दलित सिद्धान्तकारों ने भी खारिज किया। अक्सर तर्क यह दिया जाता रहा है कि लेखक स्वानुभूति और सहानुभूति के आधार पर लिखता है। लेकिन सामाजिक न्याय की शर्त न स्वानुभूति से पूरी होती है न ही सहानुभूति से। सहानुभूति अक्सर सामन्ती उदारता का ही एक रूप होती है और सामन्ती उदारता यथास्थिति में किसी बुनियादी परिवर्तन का प्रयत्न नहीं करती। स्वानुभूति एक धोखा भी हो सकती है। किसी की स्वानुभूति यह भी तो हो सकती है और होती रही है कि उत्पीड़ित के साथ जो हो रहा है वह सही हो रहा है। जिन्होंने शूद्रों के विरुद्ध अमानवीय नियम बनाए वे स्वानुभूति पर ही निर्भर कर रहे थे। यह उनका विश्वास था कि उन्हें अनुभव से मालूम है कि दलित दुर्दशा का पात्र है।

दलित सौन्दर्यशास्त्र पर विचार करते हुए रमणिका गुप्ता ने लिखा था-

"दलित साहित्य ने नए बिम्ब गढ़े, पौराणिक मिथकों की भाषा बदल डाली। नए मिथक बनाए, गौरवान्वित झूठ और आस्था पर चोट की और चमत्कार को तोड़ा। यह वर्तमान साहित्य के लिजलिजेपन और बासीपन तथा एकरूपी रसवादी प्रणाली से भिन्न है और चमत्कारी कल्पनाओं से बिल्कुल अलग होता है। इसके दायरे में अंधविश्वास, भाग्य, पूर्वजन्म के कर्म, धर्म तथा भगवान नहीं आते।"

कंवल भारती अनुसार, -

*"हमारे पास कम से कम दलित लेखकों के नाम तो हैं ही, जो सत्तर के दशक में उभरी दलित साहित्य से काफी पहले हिन्दी साहित्य में दलित चेतना की दस्तक दे रहे थे। किन्तु ये चिंतक दलितों द्वारा लिखे गये साहित्य को ही दलित साहित्य मानते हैं और उसी दृष्टि से साहित्य के इतिहास का मूल्यांकन भी करते हैं। आधुनिक दलित लेखकों के एक बड़े वर्ग ने घोषित कर रखा है कि दलितों द्वारा लिखा साहित्य स्वानुभूति का साहित्य है, अतः वही दलितों की पीड़ा का सच्चा साहित्य है। गैर दलितों द्वारा दलितों की पीड़ा के विषय में लिखा गया साहित्य सहानुभूति का साहित्य है उसमें पीड़ा की वैसी अनुभूति नहीं हो सकती है जैसी स्वानुभूति के साहित्य में होती है। शरण कुमार लिम्बाले से लेकर ओमप्रकाश वाल्मीकि, मुद्राराक्षस, कंवल भारती, जयप्रकाश कर्दम, श्योराजसिंह बेचैन, डॉ. तुलसीराम, डॉ. धर्मवीर सहित अनेक दलित चिंतक इस मत के प्रबल समर्थक हैं कि दलित की पीड़ा पर दलित ही लिख सकता है। किन्तु कुछ दलित चिंतक उस मत के विरोधी भी हैं।"*

- **आदर्शवाद और यथार्थवाद**

आदर्शवाद एक ऐसी विचारधारा है जो साहित्य-चिंतन के आदिकाल से चली आ रही है। भारत और यूनान में यह अत्यंत प्राचीन विचार है कि साहित्य का सर्वप्रथम प्रयोजन शिक्षा देना है। पश्चिम में प्लेटो से भी पूर्व ऐरिस्टोफेनिज ने कहा था कि –

*"कवि-विशेष यश का अधिकारी तभी हो सकता है जब उसका परामर्श सत हो और वह मानव को उत्कृष्टतर बनाकर राष्ट्र के उत्थान में सहायक हो।"*

रोमन आचार्यों ने भी आदर्श स्थापना पर बल दिया। होरेस ने काव्य का उद्देश्य आनंद प्रदान करने के साथ-साथ शिक्षा देना भी माना। ड्राईडन ने आनंद के बाद शिक्षा को दूसरा स्थान दिया; जॉनसन ने संसार को पहले से अधिक सुन्दर बनाना कवि का कर्त्तव्य माना है, स्वच्छंदतावादी वर्डसवर्थ तक ने कवि का कर्त्तव्य पाठक की भावनाओं का परिष्कार कर उसकी संवेदना का विस्तार करना कहा। भारत में भी आरम्भ से ही काव्य का प्रयोजन व्यवहार ज्ञान, शिवेतर से रक्षा, कान्तासम्मित उपदेश बताकर कला के आदर्शवादी सिद्धांत पर बल दिया गया है।

आदर्शवाद के अनुसार कला और यथार्थ जीवन में अंतर होता है। यथार्थ जगत में कुरूपता होती है, पर कला का संसार सौंदर्य का संसार होता है। इसमें यथार्थ जगत का अनुकरण नहीं होता, बल्कि कवि या कलाकार अपनी संवेदनशीलता के माध्यम से यथार्थ को

सुन्दर रूप देकर प्रस्तुत करता है। स्वच्छंदतावादी कवि कीट्स ने सौंदर्य को सत्य और सत्य को सुन्दर मानते हुए कहा था कि इस सौंदर्य को सदा के लिए संरक्षित करके रखती है।

आदर्शवादियों के अनुसार बाह्य यथार्थ को प्रस्तुत करने का काम कलाकार का नहीं बल्कि इतिहासकार का है। आदर्शवाद के अनुसार कला का आरम्भ बाह्य जगत की वास्तविकता से ही होता है, किन्तु शाश्वत सत्य की खोज में वह इस बाहरी यथार्थ का अतिक्रमण कर जाती है। बाहरी जगत का सम्बन्ध वैज्ञानिक सत्य से है, परन्तु कला का सत्य अलग होता है। कला जीवन-मूल्य सिखलाती है। वह जीवन को उदात्त बनने की प्रेरणा देती है। कला या साहित्य में रचनाकार या कलाकार की संवेदना, बेशक उनकी निजी अनुभवों को व्यक्त करती है, परन्तु इस प्रकार कि वे सभी के अनुभव बन जाते हैं।

**क्या आप जानते हैं?**

होरेस ने काव्य का उद्देश्य आनंद प्रदान करने के साथ-साथ शिक्षा देना भी माना। ड्राईडन ने आनंद के बाद शिक्षा को दूसरा स्थान दिया; जॉनसन ने संसार को पहले से अधिक सुन्दर बनाना कवि का कर्त्तव्य माना है।

मुंशी प्रेमचंद ने साहित्य के उद्देश्य की घोषणा करते हुए लिखा है कि –

*"जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य प्रेम न जाग्रत हो – जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाईयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं।"*

महान कला समाज का अनुसरण नहीं करती बल्कि ऐसा आदर्श प्रस्तुत करती है, जिसका अनुसरण करके समाज ऊँचा उठ सकता है।

भारतीय दर्शन और साहित्य की प्रमुख विशेषता **'आदर्शवाद'** है। वैदिक साहित्य, उपनिषद्, श्रीमद्भागवतगीता इत्यादि दर्शन एवं साहित्य के ग्रन्थ आदर्शवाद से ओत-प्रोत हैं। हिंदी साहित्य का भी एक बड़ा हिस्सा आदर्शवादी है। सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य आदर्शवादी साहित्य की विरासत है। इतना ही नहीं आचार्य शुक्ल, द्विवेदी जैसे आलोचकों की आलोचना दृष्टि की मूल प्रकृति आदर्शवादी ही है।

हिन्दी में यथार्थवाद अंग्रेजी के **'रियलिज्म'** के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त हुआ है। लेकिन इसके प्रयोग का ऐतिहासिक सन्दर्भ लगभग वही है जो पश्चिम में था। एक विशेष प्रकार के उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास की संज्ञा दी गयी। यथार्थवाद एक दृष्टिकोण भी है और एक पद्धति भी। जहाँ तक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है यह रोमैंटिसिज्म, मिथकवाद और काल्पनिकता के विरुद्ध पड़ता है। पद्धति के रूप में इसमें चरित्र, स्थिति, क्रिया-कलाप आदि का चित्रण दृश्य जगत की जिन्दगी के सदृश किया जाता है। बह्यार्थ निरूपक यथार्थवाद को प्रकृतवाद कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद आदि के रूप में यह प्रतिष्ठित हुआ।

साहित्यिक आलोचना में उन कृतियों को यथार्थवादी कहा जाता है जो जीवन का यथावत् चित्रण करती है। यथार्थवादी कलाकार की यही चेष्टा होती है कि उसके द्वारा प्रस्तुत घटनाएं तथा पात्र यथार्थ जगत की प्रतिच्छाया हों। असम्भाव्य तथा अद्भुत को वह प्रकृतिविरुद्ध मानकर अपनी कृति में इनका समावेश नहीं होने देता। इस प्रकार **'यथार्थवाद'** एक ओर तो आदर्शवाद के और दूसरी ओर स्वच्छन्दतावाद के विपरीत प्रवृत्ति है।

यथार्थवादी लेखक का मानव-जीवन और मानव समाज के प्रति इस प्रकार का निष्पक्ष और अनाशक्त दृष्टिकोण होता है, जिस प्रकार फोटोग्राफर का। वह अपनी कृति को अपने व्यक्तिगत विचारों तथा अनुभूतियों से सर्वथा निर्लिप्त रखने का प्रयास करता है। यथार्थवादी साहित्यकार अपने इस उद्देश्य को सफल करने की दृष्टि से विशेष प्रकार के शिल्प-साधनों को व्यवहार में लाता है। जैसे, स्थानीय प्रादेशिक दृश्यावली तथा वातावरण का अंतर्भाव, कथावस्तु की दृष्टि से जो पात्र एवं स्थान प्रायः महत्वहीन हैं उनका भी सूक्ष्म एवं सुविस्तृत चित्रण, स्थानीय तथा सामयिक घटनाओं एवं रीति-रिवाजों के विवरण, पात्रों के कथोपकथनों में उनके सामाजिक स्तर एवं प्रदेश के अनुसार भाषा अथवा बोली का प्रयोग आदि। **'यथार्थवादी'** तथा **'प्रकृतवादी'** लेखक में यह अंतर है कि जहाँ यथार्थवादी मनुष्य के आदर्श और हीन दोनों पक्षों का यथावत् चित्रण करता है, वहाँ प्रकृतवादी उसके हीन पक्ष एवं उसकी पाशविक वृतियों पर ही अपनी कथावस्तु को आधारित करता है।

यथार्थवाद के सन्दर्भ में हिंदी के अनेक विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। इस सम्बन्ध में प्रेमचंद कहते हैं कि –

*"यथार्थवाद चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे उससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं और चूँकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बुरा नहीं होता, बल्कि उसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएं सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं उनको नेकी का फल उल्टा मिलता है और बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनको बदी का फल उल्टा मिलता है, प्रकृति का नियम विचित्र है।"*

वहीं जयशंकर प्रसाद के अनुसार –

*"यथार्थवाद एक साहित्यिक दृष्टि है।"*

उन्होंने लिखा है –

*"यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है, साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।"*

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में –

*"कला के क्षेत्र में यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृति है, जो निरंतर अवस्था के अनुरूप परिवर्तित और रूपायित होती रहती है।"*

यथार्थवाद मानव एवं समाज को एक इकाई के रूप में देखता है। वह उसके किसी एक या कुछ अंशों को ही सामने नहीं लाता। यथार्थवाद की तीन सीमाएं बताईं जाती हैं – सम्पूर्णता, स्वतंत्र जीवन चित्रण और मानव के सामाजिक सम्बन्ध।

## स्व-मूल्यांकन प्रश्नमाला

### बहुवैकल्पिक प्रश्न

**1. 'द वेस्टलैंड' किनकी रचना है ?**

(क) **टी. एस. इलियट** (ख) डाइड्रन (ग) वड्र्सवर्थ (घ) इनमें से कोई नहीं।

**2. हिंदी में लोकमंगल को विशेष अर्थ देने का श्रेय किसे है ?**

(क) बच्चन सिंह (ख) प्रेमचंद (ग) **शुक्ल जी** (घ) इनमें से कोई नहीं ।

**3. इनमें में से किस पुस्तक के लेखक अरस्तू हैं?**

(क) नाट्यशास्त्र (ख) **काव्यशास्त्र** (ग) अलंकार दर्पण (घ) काव्य प्रकाश।

**4. 'नई कविता के प्रतिमान' के लेखक कौन हैं ?**

(क) **नामवर सिंह** (ख) मैनेजर पाण्डेय (ग) केदारनाथ सिंह (घ) इनमें से कोई नहीं ।

**5. लक्ष्मीकांत वर्मा का सम्बन्ध किससे है ?**

(क) **ताजी कविता** (ख) फैंटेसी (ग) लोकमंगल (घ) भावाभास।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **बिम्ब और प्रतीक पर चर्चा कीजिए।**
2. **फैंटेसी का परिचय दीजिए।**
3. **सपाटबयानी को स्पष्ट कीजिए।**
4. **रूप और वस्तु पर विचार कीजिए।**

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. साहित्य में आधुनिकता बोध के महत्व पर चर्चा कीजिए।
2. लोकमंगल की अवधारणा और हिंदी साहित्य का विवेचन कीजिए ।
3. अस्मिता विमर्श के सन्दर्भ में स्वानुभूति और सहानुभूति का परीक्षण कीजिए ।

## सन्दर्भ-सूची


1. आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।
2. साहित्यिक पारिभाषिक शब्द कोश, प्रो. महेंद्र चतुर्वेदी / प्रो. तारकनाथ बाली, बुक्स एन बुक्स, दिल्ली।
3. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
4. साहित्य चिंतन धारा, डॉ. अनिल कुमार, के. एल. पचौरी प्रकाशन, दिल्ली।
5. कविता के नए प्रतिमान, नामवर सिंह।
6. चिंतामणि 1-2 , आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रसमीमांसा।
7. कला की जरुरत, अर्न्स्ट फिशर।
8. आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब-विधान का विकास, केदारनाथ सिंह।
9. रस-सिद्धांत, नगेन्द्र।
10. नयी कविता के प्रतिमान, लक्ष्मीकांत वर्मा।
11. नयी समीक्षा के प्रतिमान, डॉ. निर्मला जैन।
12. हिंदी साहित्य कोश।
13. यथार्थवाद , शिवकुमार मिश्र।
14. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां , नामवर सिंह।
15. आधुनिक हिंदी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, नगेन्द्र।